ईशावास्योपनिषद्

॥ भाग – 2 ॥

श्लोक 10 – 18



मूल श्लोक • हिन्दी अर्थ • व्याख्या • आधुनिक उदाहरण

www.spiritualconce.com

॥ श्लोक – 10 ॥

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अर्थ

विद्या (देवताज्ञान) से और ही फल बताया गया है तथा अविद्या (कर्म) से और ही फल बताया गया है। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१०॥

व्याख्या

यह मन्त्र पिछले मन्त्र (९) के विचार को आगे स्पष्ट करता है। वहाँ कहा गया था कि केवल अविद्या या केवल विद्या दोनों ही मनुष्य को अंधकार की ओर ले जा सकते हैं। यहाँ उपनिषद् यह बताता है कि विद्या और अविद्या दोनों का अपना-अपना अलग उद्देश्य और परिणाम है।

उदाहरण



मान लीजिए एक वैज्ञानिक है जो अंतरिक्ष तकनीक पर काम कर रहा है। वह रॉकेट बनाना, ऊर्जा का उपयोग करना और ग्रहों का अध्ययन करना जानता है। यह ज्ञान उसे ब्रह्मांड के भौतिक पहलुओं को समझने में मदद करता है। लेकिन यह ज्ञान जरूरी नहीं कि उसे यह समझा दे कि चेतना क्या है, जीवन का उद्देश्य क्या है, या अस्तित्व का अंतिम अर्थ क्या है।

इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति केवल आध्यात्मिक विचारों में ही लगा रहे लेकिन भौतिक संसार के नियमों और व्यवहारिक जीवन को न समझे, तो वह भी अधूरा रह जाएगा।

सरल उदाहरण

इसे ऐसे समझिए जैसे एक पक्षी के दो पंख होते हैं। अगर पक्षी के पास केवल एक ही पंख हो तो वह उड़ नहीं सकता। उड़ने के लिए दोनों पंखों का संतुलन आवश्यक है।

उपनिषद् का संदेश भी यही है – मनुष्य के जीवन में **व्यवहारिक ज्ञान (अविद्या)** और **आध्यात्मिक ज्ञान (विद्या)** दोनों की आवश्यकता है।

व्यवहारिक ज्ञान हमें संसार में सही ढंग से जीना सिखाता है, जबकि आध्यात्मिक ज्ञान हमें यह समझने में मदद करता है कि हम वास्तव में कौन हैं।

जब दोनों का संतुलन होता है, तभी मनुष्य का विकास पूर्ण रूप से संभव होता है। यही कारण है कि उपनिषद् के ऋषि इन दोनों को विरोधी नहीं मानते, बल्कि जीवन के दो आवश्यक आयाम के रूप में देखते हैं।

॥ श्लोक – 11 ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अर्थ

जो विद्या और अविद्या–इन दोनोंको ही एक साथ जानता है वह अविद्याके द्वारा मृत्युको पार करके विद्याके द्वारा अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥११॥

यहाँ **अविद्या** का अर्थ है संसार से जुड़ा ज्ञान और कर्म – जैसे विज्ञान, तकनीक, समाज, शरीर, प्रकृति और जीवन की व्यवहारिक व्यवस्था को समझना। यह ज्ञान हमें जीवन को व्यवस्थित करने, समस्याओं को हल करने और प्रकृति के नियमों को समझने में मदद करता है। उपनिषद् कहता है कि इस प्रकार का ज्ञान मनुष्य को "मृत्यु को पार करने" में सहायता करता है। इसका अर्थ यह है कि भौतिक ज्ञान हमें जीवन की सीमाओं, रोगों और प्राकृतिक चुनौतियों से लड़ने की क्षमता देता है।



लेकिन केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। इसके बाद मन्त्र कहता है कि **विद्या के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है**। यहाँ विद्या का अर्थ है आत्मज्ञान – अर्थात यह समझ कि हमारा वास्तविक स्वरूप केवल शरीर तक सीमित नहीं है। जब मनुष्य इस चेतना को समझता है, तब उसके जीवन की दृष्टि बदल जाती है।

उदाहरण

मान लीजिए चिकित्सा विज्ञान को लें। चिकित्सा विज्ञान (medicine) हमें शरीर की बीमारियों से बचाने में मदद करता है। यह अविद्या के क्षेत्र में आता है क्योंकि यह भौतिक शरीर और प्रकृति के नियमों से संबंधित है। इसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को लंबा और स्वस्थ बना सकता है।

लेकिन चिकित्सा विज्ञान यह नहीं बता सकता कि चेतना क्या है, जीवन का अंतिम अर्थ क्या है, या अस्तित्व का मूल स्वरूप क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर दर्शन और आत्मज्ञान के क्षेत्र में खोजा जाता है।

इसलिए उपनिषद् कहता है कि मनुष्य को दोनों की आवश्यकता है – विज्ञान और आत्मज्ञान।

एक सरल उदाहरण

मान लीजिए आपके पास एक कार है। कार को चलाने के लिए आपको दो चीज़ों की आवश्यकता होती है –

पहली, इंजन और तकनीक जो कार को आगे बढ़ाती है।

दूसरी, दिशा या मार्गदर्शन जो बताता है कि आपको कहाँ जाना है।

यदि कार में इंजन हो लेकिन दिशा न हो, तो आप कहीं भी भटक सकते हैं। और यदि दिशा हो लेकिन इंजन न हो, तो आप आगे बढ़ ही नहीं पाएँगे।

उपनिषद् का संदेश भी यही है – **अविद्या हमें साधन देती है, और विद्या हमें दिशा देती है।**

जब मनुष्य दोनों को संतुलित रूप से समझता है, तब उसका जीवन केवल भौतिक सफलता तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह गहरी समझ और संतुलन के साथ जीवन जीने लगता है। यही स्थिति उपनिषद् की भाषा में अमृतत्व की ओर बढ़ना कहलाती है।

॥ श्लोक – 12 ॥

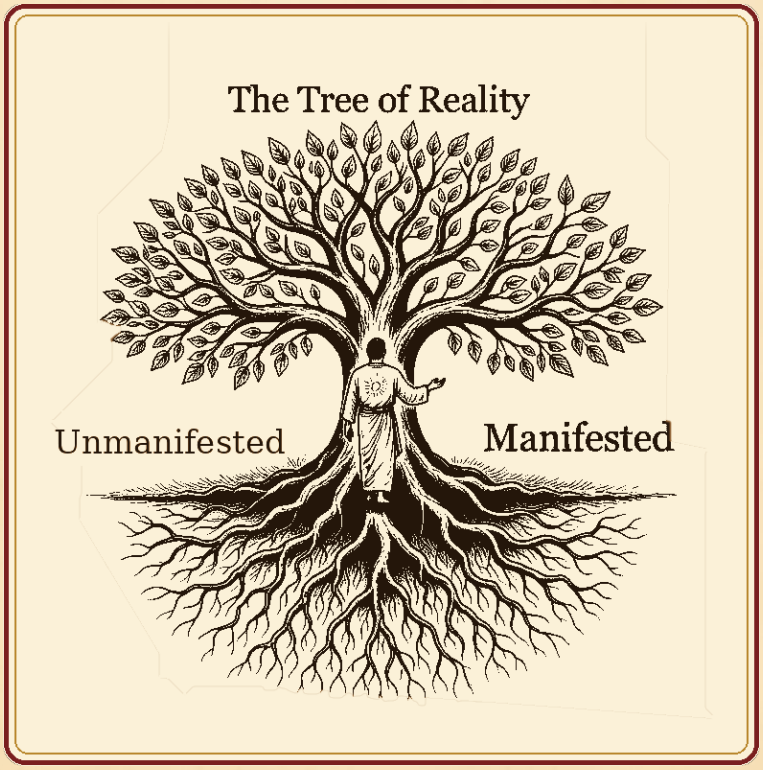
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२ ॥

अर्थ

जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (कार्यब्रह्म) में रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥१२ ॥

यह मन्त्र भी ईशावास्य उपनिषद् के उन गहरे मन्त्रों में से है जहाँ ऋषि मनुष्य की समझ की दो सीमाओं की ओर संकेत करते हैं। यहाँ **“असम्भूति”** और **“सम्भूति”** दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। असम्भूति का अर्थ है अव्यक्त प्रकृति – वह मूल प्रकृति जो अभी प्रकट नहीं हुई है। सम्भूति का अर्थ है प्रकट सृष्टि – अर्थात वह संसार जिसे हम देखते हैं, जैसे पदार्थ, जीव, ग्रह, ऊर्जा आदि।



उपनिषद् कहता है कि यदि कोई व्यक्ति केवल अव्यक्त प्रकृति की ही उपासना करता है, अर्थात केवल किसी अदृश्य शक्ति या मूल प्रकृति के सिद्धान्त में ही उलझा रहता है और सृष्टि के वास्तविक अनुभव और जीवन की प्रक्रिया को नहीं समझता, तो वह भी अज्ञान में रह सकता है।

उदाहरण

इसे ऐसे समझिए जैसे एक पेड़ को समझना। यदि कोई व्यक्ति केवल बीज को ही देखे और कहे कि यही सब कुछ है, तो वह पेड़ की पूरी वास्तविकता को नहीं समझ पाएगा। और यदि कोई व्यक्ति केवल पेड़ की शाखाओं और पत्तों को ही देखे लेकिन यह न समझे कि उनका स्रोत बीज और जड़ें हैं, तो उसकी समझ भी अधूरी होगी।

उपनिषद् का संकेत यही है कि वास्तविक ज्ञान तब आता है जब हम मूल कारण और प्रकट रूप दोनों को समझते हैं।

इस मन्त्र का गहरा संदेश यह है कि संसार को समझने के लिए मनुष्य को केवल दिखाई देने वाले पदार्थों या केवल अदृश्य सिद्धान्तों में ही सीमित नहीं रहना चाहिए। वास्तविक ज्ञान तब आता है जब हम सृष्टि के मूल कारण और उसके प्रकट रूप दोनों के बीच के संबंध को समझते हैं।

॥ श्लोक – 13 ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३ ॥

अर्थ

कार्यब्रह्मकी उपासनासे और ही फल बताया गया है; तथा अव्यक्तोपासनासे और ही फल बताया है। ऐसा हमने बुद्धिमानोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१३ ॥

व्याख्या

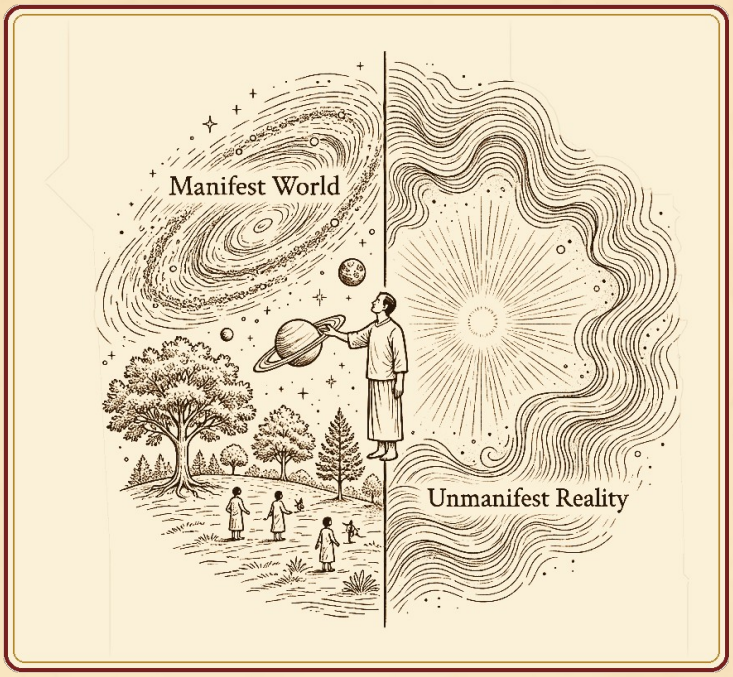
यह मन्त्र पिछले मन्त्र (१२) की ही आगे की व्याख्या करता है। वहाँ “सम्भूति” और “असम्भूति” का उल्लेख आया था, और यहाँ उपनिषद् स्पष्ट करता है कि इन दोनों से मिलने वाले परिणाम अलग-अलग होते हैं। ऋषि यह बताते हैं कि यह विचार उन्होंने स्वयं नहीं गढ़ा, बल्कि उन धीर पुरुषों से सुना है जिन्होंने वास्तविकता को गहराई से समझा था।

यहाँ सम्भव (सम्भूति) का अर्थ है प्रकट सृष्टि – वह संसार जो हमारे सामने दिखाई देता है, जैसे प्रकृति, जीव-जंतु, ग्रह, ऊर्जा और जीवन की गतिविधियाँ। दूसरी ओर असम्भव (असम्भूति) का अर्थ है वह अव्यक्त मूल कारण जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, अर्थात वह आधार जो सीधे दिखाई नहीं देता।

उपनिषद् का कहना है कि इन दोनों की उपासना या समझ अलग-अलग परिणाम देती है। यदि कोई व्यक्ति केवल प्रकट संसार को ही समझने में लगा रहता है, तो वह प्रकृति के नियमों, विज्ञान और जीवन की व्यवस्था को समझ सकता है। लेकिन इससे उसे अस्तित्व के अंतिम कारण का ज्ञान नहीं मिलेगा।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति केवल उस अदृश्य मूल सिद्धान्त को ही समझने में लगा रहे और सृष्टि के प्रकट रूपों को न समझे, तो उसकी समझ भी अधूरी रह जाएगी।

उदाहरण



मान लीजिए एक मशीन है। यदि आप केवल मशीन के बाहरी हिस्से को देखें – उसके पहिए, बटन और संरचना – तो आप यह समझ सकते हैं कि वह कैसे काम करती है। लेकिन यदि आप यह नहीं समझते कि उसके भीतर कौन-सा सिद्धान्त या ऊर्जा काम कर रही है, तो आपकी समझ अधूरी रहेगी।

और यदि आप केवल उसके सिद्धान्तों के बारे में सोचते रहें लेकिन मशीन को वास्तविक रूप में कभी देखें ही नहीं, तो भी आपकी समझ अधूरी रहेगी।

उपनिषद् का संदेश यह है कि **वास्तविक ज्ञान तब आता है जब मनुष्य कारण और परिणाम दोनों को समझता है – मूल सिद्धान्त भी और प्रकट संसार भी।**

यही संतुलित दृष्टि मनुष्य को अस्तित्व की गहरी समझ की ओर ले जाती है।

॥ श्लोक – 14 ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

अर्थ

जो असम्भूति और कार्यब्रह्म–इन दोनोंको साथ-साथ जानता है वह कार्यब्रह्मकी उपासनासे मृत्युको पार करके असम्भूतिके द्वारा [प्रकृतिलयस्वरूप] अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

यह मन्त्र ईशावास्य उपनिषद् के उस गहरे सिद्धान्त को पूरा करता है जो पिछले कुछ मन्त्रों में लगातार समझाया जा रहा था। यहाँ ऋषि बताते हैं कि वास्तविक ज्ञान केवल किसी एक पक्ष को पकड़ने से नहीं मिलता। मनुष्य को **सम्भूति (प्रकट सृष्टि)** और **विनाश (नश्वरता या परिवर्तन)** दोनों की प्रकृति को समझना आवश्यक है।



यहाँ "विनाश" का अर्थ केवल नष्ट होना नहीं है, बल्कि यह उस सत्य की ओर संकेत करता है कि संसार की हर वस्तु परिवर्तनशील है। शरीर बदलता है, पदार्थ बदलता है, तारे बनते और नष्ट होते हैं, और पूरे ब्रह्मांड में निरंतर परिवर्तन चलता रहता है। इस परिवर्तनशीलता को समझना मनुष्य को यह सिखाता है कि भौतिक चीज़ें स्थायी नहीं हैं।

उदाहरण

एक बीज को देखिए। जब बीज मिट्टी में जाता है, तो वह अपने पुराने रूप में "नष्ट" हो जाता है। लेकिन उसी विनाश से एक नया पौधा जन्म लेता है। यदि बीज अपने पुराने रूप को पकड़े रहे, तो वह कभी पेड़ नहीं बन सकता।

उपनिषद् का संदेश भी यही है – जीवन में परिवर्तन और नश्वरता को समझना आवश्यक है, क्योंकि उसी समझ से मनुष्य उस गहरे सत्य तक पहुँच सकता है जो परिवर्तन से परे है।

इस मन्त्र का सार यह है कि जब मनुष्य संसार की नश्वरता और उसके मूल स्रोत दोनों को समझ लेता है, तब वह जीवन को अधिक व्यापक दृष्टि से देखने लगता है। यही समझ उसे भय और सीमाओं से ऊपर उठाकर उस चेतना की ओर ले जाती है जिसे उपनिषद् अमृतत्व कहते हैं।

॥ श्लोक – 15 ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५ ॥

अर्थ

आदित्यमण्डलरूप प्रकाशमय पात्रसे ढका हुआ है । हे पूषन्! मुझे सत्यधर्मको आत्माकी उपलब्धि करानेके लिये तू उसे उद्घाटित कर दे ॥१५ ॥

यहाँ ऋषि सूर्य से प्रार्थना करते हैं कि वह उस “सत्य” को ढकने वाले प्रकाश के आवरण को हटा दे ताकि साधक वास्तविक सत्य को देख सके।



पहली नज़र में यह अजीब लगता है कि प्रकाश सत्य को छिपा कैसे सकता है। सामान्यतः हम सोचते हैं कि प्रकाश सत्य को प्रकट करता है। लेकिन यहाँ “हिरण्मयेन पात्रेण” का अर्थ है एक **चमकदार आवरण** – ऐसा आकर्षक या उज्ज्वल रूप जो वास्तविकता को ढक देता है।

उपनिषद् का संकेत यह है कि संसार में बहुत सी चीज़ें बाहर से बहुत आकर्षक और चमकदार दिखाई देती हैं – धन, शक्ति, प्रसिद्धि, पद, बाहरी ज्ञान या भौतिक उपलब्धियाँ। ये सब उस सुनहरे आवरण की तरह हैं जो हमें वास्तविक सत्य से दूर कर सकते हैं यदि हम केवल इन्हीं में उलझ जाएँ।

ऋषि यहाँ सूर्य को **"पूषन्"** कहकर संबोधित करते हैं। पूषन् का अर्थ है पोषण करने वाला, मार्गदर्शक। सूर्य को ज्ञान और प्रकाश का प्रतीक माना गया है। इसलिए साधक सूर्य से प्रार्थना करता है कि वह उस बाहरी चमक को हटाकर उसे सत्य का दर्शन करा दे।

उदाहरण

मान लीजिए किसी व्यक्ति का जीवन सोशल मीडिया पर बहुत चमकदार दिखाई देता है – शानदार तस्वीरें, सफलता और प्रसिद्धि। बाहर से सब कुछ परिपूर्ण लगता है। लेकिन वास्तविक जीवन में वह व्यक्ति अंदर से परेशान या असंतुष्ट भी हो सकता है।

इसका अर्थ यह है कि बाहरी चमक हमेशा वास्तविक सत्य को नहीं दिखाती।

उपनिषद् का संदेश यह है कि मनुष्य को केवल बाहरी आकर्षणों और सतही ज्ञान से संतुष्ट नहीं होना चाहिए। उसे उस गहरे सत्य की खोज करनी चाहिए जो इन सबके पीछे छिपा हुआ है।

इस मन्त्र में साधक की प्रार्थना यही है –

"हे प्रकाश के स्रोत! उस चमकदार आवरण को हटा दे ताकि मैं वास्तविक सत्य का दर्शन कर सकूँ।"

यह एक प्रतीकात्मक प्रार्थना है कि मनुष्य की चेतना से अज्ञान, भ्रम और बाहरी आकर्षण का आवरण हट जाए और वह अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप को देख सके।

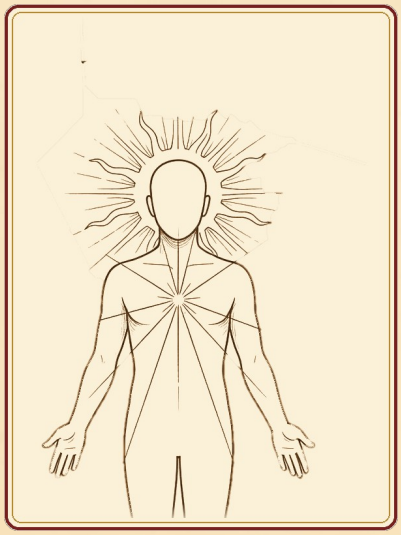
॥ श्लोक – 16 ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

अर्थ

हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करनेवाले! हे यम (संसारका नियमन करनेवाले)! हे सूर्य (प्राण और रसका शोषण करनेवाले)! हे प्राजापत्यदेव! तू अपनी किरणोंको हटा दे (अपने तेजको समेट ले)। तेरा जो अति सुन्दर कल्याणमय रूप है उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ ॥१६॥

यहाँ साधक सूर्य से प्रार्थना करता है कि वह अपनी तीव्र किरणों को हटा दे ताकि वह उसके भीतर स्थित उस परम सत्य को देख सके। लेकिन यह केवल खगोल या सूर्य की बात नहीं है; यह एक प्रतीकात्मक भाषा है जिसमें सूर्य को **ज्ञान, चेतना और ब्रह्मांडीय ऊर्जा** का प्रतीक माना गया है।



साधक सूर्य को कई नामों से संबोधित करता है – **पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य**। ये सभी नाम सूर्य की अलग-अलग भूमिकाओं को दर्शाते हैं। सूर्य जीवन का पोषण करता है, समय और नियमों का आधार है, और पूरी पृथ्वी पर ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। इसलिए वेदों में सूर्य को केवल एक तारा नहीं बल्कि जीवन के आधार के रूप में देखा गया।

इस मन्त्र का सबसे गहरा भाग अंत में आता है –

“योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि”

अर्थात – “जो वह परम पुरुष है, वही मैं हूँ।”

यहाँ उपनिषद् का मुख्य सिद्धान्त प्रकट होता है – आत्मा और ब्रह्म का एकत्व। साधक कहता है कि जो चेतना पूरे ब्रह्मांड में है, वही चेतना मेरे भीतर भी है। यह कोई अहंकारपूर्ण कथन नहीं है, बल्कि यह अनुभव है कि व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप उस सार्वभौमिक चेतना से अलग नहीं है।

उदाहरण

मान लीजिए समुद्र में हजारों लहरें हैं। हर लहर अलग दिखाई देती है, लेकिन वास्तव में वे सब समुद्र ही हैं। यदि कोई लहर समझ ले कि उसका वास्तविक स्वरूप समुद्र है, तो उसका भय और अलगाव समाप्त हो जाता है।

उपनिषद् का यह मन्त्र उसी अनुभूति को व्यक्त करता है। जब साधक अपने वास्तविक स्वरूप को समझता है तो उसे अनुभव होता है कि उसकी चेतना उस सार्वभौमिक चेतना से अलग नहीं है।

इसलिए इस मन्त्र का सार केवल सूर्य की प्रार्थना नहीं है, बल्कि यह एक गहरी आध्यात्मिक अनुभूति है – **व्यक्ति और ब्रह्मांड के बीच के एकत्व की अनुभूति।**

॥ श्लोक – 17 ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७ ॥

अर्थ

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूक्ष्मात्माको प्राप्त हो और यह शरीर भस्म हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए कर्मोंका स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए कर्मोंका स्मरण कर ॥१७ ॥

मन्त्र का पहला भाग कहता है – **"वायुरनिलममृतम्"**। इसका अर्थ है कि प्राण या जीवन ऊर्जा अंततः उस सार्वभौमिक वायु या ऊर्जा में मिल जाती है जिससे वह उत्पन्न हुई थी। और **"भस्मान्तं शरीरम्"** का अर्थ है कि शरीर अंततः मिट्टी या राख में परिवर्तित हो जाता है। यह जीवन के उस प्राकृतिक नियम की ओर संकेत करता है कि शरीर नश्वर है और प्रकृति के चक्र में वापस लौट जाता है।

आधुनिक विज्ञान भी इसी सिद्धान्त को एक अलग भाषा में समझाता है। जब कोई जीव मरता है, तो उसका शरीर धीरे-धीरे प्रकृति के तत्वों में बदल जाता है। कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन जैसे तत्व फिर मिट्टी, हवा और अन्य जीवों के चक्र में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार शरीर प्रकृति के बड़े चक्र का हिस्सा बन जाता है।

लेकिन मन्त्र का दूसरा भाग और भी महत्वपूर्ण है – **"क्रतो स्मर कृतं स्मर"**।

यहाँ "क्रतु" का अर्थ है संकल्प या मन। ऋषि अपने मन से कहते हैं – अपने कर्मों को याद करो। इसका संकेत यह है कि जीवन का वास्तविक मूल्य हमारे कर्म और हमारे द्वारा किए गए कार्यों में है।

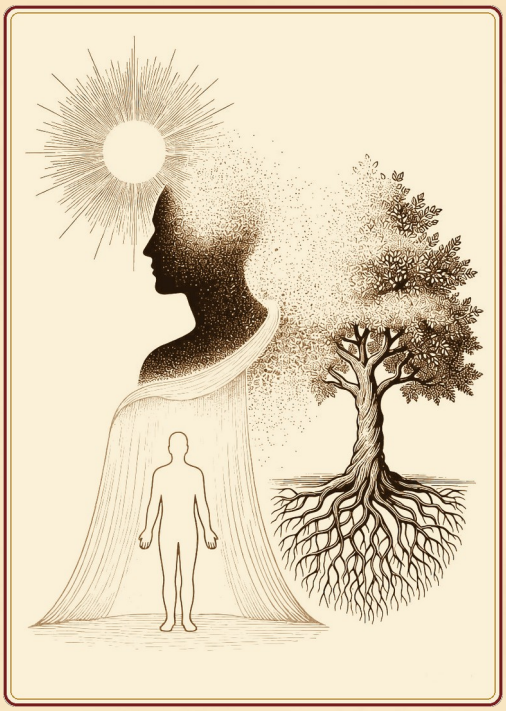
उदाहरण

मान लीजिए किसी शिक्षक ने हजारों विद्यार्थियों को शिक्षा दी। एक दिन उसका शरीर नष्ट हो जाएगा, लेकिन उसके द्वारा दी गई शिक्षा उन विद्यार्थियों के जीवन में आगे भी काम करती रहेगी। वे विद्यार्थी फिर दूसरों को प्रभावित करेंगे।

इस तरह उस व्यक्ति के कर्मों का प्रभाव लंबे समय तक चलता रहता है।

उपनिषद् का संदेश यह है कि मनुष्य को यह समझना चाहिए कि शरीर अस्थायी है, लेकिन उसके विचार, कर्म और प्रभाव दुनिया में एक लम्बी श्रृंखला बनाते हैं। इसलिए जीवन का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम अपने कर्मों को किस दिशा में उपयोग करते हैं।

यह मन्त्र हमें मृत्यु से डराने के लिए नहीं है, बल्कि यह याद दिलाने के लिए है कि **जीवन सीमित है, इसलिए उसे जागरूकता और जिम्मेदारी के साथ जीना चाहिए।**



॥ श्लोक – १८ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

अर्थ

हे अग्ने! हमें कर्मफलभोगके लिये सन्मार्गसे ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान और कर्मोंको जाननेवाला है। हमारे पापरूप दोषोंको दूर कर। हम तेरे लिये अनेक नमस्कार करते हैं ॥१८॥

व्याख्या

यह मन्त्र ईशावास्य उपनिषद् का अंतिम मन्त्र है और इसमें एक गहरी प्रार्थना और जीवन-दर्शन छिपा हुआ है। यहाँ साधक अग्नि से प्रार्थना करता है कि वह उसे सही मार्ग पर ले जाए। वेदों में अग्नि केवल भौतिक आग नहीं है, बल्कि वह **ज्ञान, चेतना, ऊर्जा और मार्गदर्शन** का प्रतीक है।



मन्त्र का पहला भाग है – **"अग्ने नय सुपथा"**। इसका अर्थ है कि हमें अच्छे मार्ग पर ले चलो। यहाँ "सुपथा" का अर्थ केवल नैतिक मार्ग नहीं है, बल्कि ऐसा जीवन-पथ है जो मनुष्य को भ्रम, अज्ञान और गलत निर्णयों से दूर

रखे। मनुष्य का जीवन अनेक विकल्पों और परिस्थितियों से भरा होता है, इसलिए सही दिशा चुनना हमेशा आसान नहीं होता।

इसीलिए साधक उस चेतना या ज्ञान के स्रोत से प्रार्थना करता है जो सही और गलत के बीच अंतर समझने की क्षमता देता है।

उदाहरण

यदि हम आधुनिक तकनीक का उदाहरण लें तो GPS सिस्टम को देख सकते हैं। जब हम किसी अनजान जगह जाते हैं, तो GPS हमें सही रास्ता दिखाता है। वह हमारे स्थान को पहचानता है और फिर हमें सबसे उपयुक्त मार्ग बताता है। लेकिन यदि GPS न हो, तो हम आसानी से गलत दिशा में जा सकते हैं।

उपनिषद् का यह मन्त्र उसी प्रकार की आंतरिक मार्गदर्शक शक्ति की बात करता है – वह विवेक या चेतना जो हमें सही निर्णय लेने में मदद करती है।

मन्त्र का दूसरा भाग कहता है – **"वयुनानि विद्वान्"**, अर्थात् तू सभी कर्मों और उनके परिणामों को जानता है। इसका संकेत यह है कि प्रकृति और जीवन के नियम बहुत सूक्ष्म हैं। हर कर्म का एक परिणाम होता है, और ये परिणाम एक बड़े कारण-परिणाम के तंत्र का हिस्सा हैं।

मान लीजिए कोई व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता – गलत भोजन करता है, व्यायाम नहीं करता और लगातार तनाव में रहता है। कुछ समय बाद उसके शरीर पर इसका प्रभाव दिखाई देने लगता है। यह कर्म और परिणाम का एक सरल उदाहरण है।

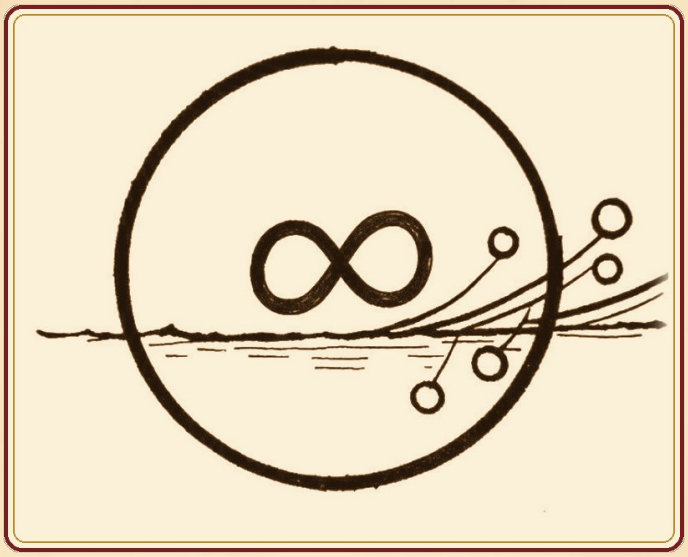
इसी प्रकार जीवन के हर निर्णय का प्रभाव पड़ता है – हमारे ऊपर भी और समाज पर भी।

मन्त्र का अंतिम भाग है – **"युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः"**। इसका अर्थ है कि हमारे भीतर जो दोष, गलतियाँ या अज्ञान है, उसे दूर कर दो। यह एक आत्मिक स्वीकार है कि मनुष्य पूर्ण नहीं है और उसे लगातार सीखने और सुधारने की आवश्यकता होती है।

इस मन्त्र का सार यह है कि मनुष्य को अपने जीवन में सही दिशा, विवेक और जागरूकता की आवश्यकता होती है। जब वह अपने भीतर के ज्ञान और सत्य की ओर बढ़ता है, तब उसका जीवन अधिक संतुलित और अर्थपूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार ईशावास्य उपनिषद् का अंतिम मन्त्र हमें यह सिखाता है कि **जीवन केवल ज्ञान प्राप्त करने के बारे में नहीं है, बल्कि उस ज्ञान के आधार पर सही मार्ग पर चलने के बारे में भी है।**

शांति पाठ



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ यह भाग – 2 है ॥

ईशावास्योपनिषद् – श्लोक 10 से 18 तक

(भाग 1 में शांति पाठ तथा श्लोक 1 – 9 दिए गए हैं)